संयुक्त प्रान्त में आरंभिक शिक्षा

❑ प्रेमचन्द

दिसम्बर के 'मॉडर्न रिव्यू' में सेंट निहाल सिंह ने एक अनूठा लेख लिखा है जिसमें अमरीका के एक देहात की कैफियत बयान की है । उसे पढ़कर हैरत भी होती है, और मायूसी भी । हैरत इसलिए कि तहजीब की जो आसानियां और जो सुविधाएं इस गांव में हैं, वह हिन्दोस्तान के बड़े-बड़े शहरों को भी नसीब नहीं । और मायूसी इसलिए कि शायद हिन्दोस्तान की किस्मत में तरक्की करना लिखा ही नहीं । दो हजार आदमी का मौजा और हाई-स्कूल! उसकी इमारत, उसके पुस्तकालय, उसकी लेबोरेटरी पर हिन्दोस्तान का कोई कालेज गर्व कर सकता है । क्या हिन्दोस्तान के कभी ऐसे नसीब होंगे !

अब एक तरफ तो इस देहाती मदरसे को देखिए और दूसरी तरफ एक हिन्दोस्तानी देहाती मदरसे का खयाल कीजिए । एक पेड़ के नीचे, जिसके इधर-उधर कूड़ा-करकट पड़ा हुआ है और जहां शायद वर्षों से झाड़ू नहीं दी गयी, एक फटे-पुराने टाट पर बीस-पच्चीस लड़के बैठे ऊंघ रहे हैं । सामने एक टूटी हुई कुर्सी और पुरानी मेज है । उस पर जनाब मास्टर साहब बैठे हुए हैं । लड़के झूम-झूमकर पहाड़े रट रहे हैं । शायद किसी के बदन पर साबित कुर्ता न होगा । धोती जांघ के ऊपर तक बंधी हुई, टोपी मैली-कुचैली, शकलें भूखी, चेहरे बुझे हुए ! यह आर्यावर्त का मदरसा है जहाँ किसी जमाने में तक्षशिला और नालन्दा के विद्यापीठ थे । कितना फर्क है । हम तहजीब की दौड़ में दूसरी कौमों से कितना पीछे हैं, कि शायद वहाँ पहुंचने का हौसला भी नहीं कर सकते ।

हमारी आरम्भिक शिक्षा के सुधार उन्नति के लिए सबसे बड़ी जरूरत योग्य शिक्षकों की है । और योग्य आदमी आठ रुपये या नौ रुपये महावार के वेतन पर दुनिया के पर्दे पर कहीं नहीं मिल सकते । जिस आदमी को पेट की फिक्र से आजादी ही नसीब न होगी वह तालीम की तरफ क्या खाक ध्यान देगा ? ऐसे बहुत से जिले हैं जहां अभी तक मुदर्रिसों को चार और पांच रूपये से ज्यादा तनख्वाह नहीं मिलती । ऐसे आदमियों के हाथों में हमारी सरकार ने रिआया की तालीम रख दी है और ताज्जुब किया जाता है कि तालीमी हालत क्यों ऐसी रद्दी है । जब सरकारी मदरसों का यह हाल है तो इमदादी मदरसों का जिक्र ही क्या । उनमें कम से कम तीन चौथाई ऐसे हैं, जिन्हें सरकार चार रुपये माहवार इमदाद देती है और उसमें एक आना मनीआर्डर का महसूल कट जाता है, तीन रुपये पन्द्रह आने में कौन महीना भर दर्दसरी गवारा करेगा । शहरों में कहारों की तनख्वाहें छः और सात रुपये माहवार हैं बल्कि अक्सर तो इससे भी ज्यादा । मामूली मजदूर चार आने पैसे रोज कमा लेता है । मगर गरीब मुदर्रिस इनसे भी जलील समझा जाता है । मजबूरन या तो वह गरीब खेती की तरफ चला जाता है या सरकारी कायदे के खिलाफ पाव आने की जगह एक आना या इससे ज्यादा फीस लेना शुरू करता है । इसका नतीजा यह है कि लड़कों की तादाद में बढ़ती नहीं होने पाती । बहुत से इमदादी मदरसे तो सिर्फ इसलिए कायम हैं कि एक गरीब आदमी तीन-चार रुपये घर बैठे पा जाता है । फर्जी लड़कों के नाम लिख लिये जाते हैं और जब कोई मुआइना करने वाला अफसर पहुंच जाता है, तो थोड़े से लड़के इधर-उधर से बटोर कर दिखा दिये जाते हैं ।

वेतन का तो यह हाल है । अब यह देखिए की एक मुदर्रिस चार दर्जों की तालीम क्योंकर दे सकता है । मदरसों के एक इंसपेक्टर साहब बहुत सही तौर पर पूछते हैं कि एक आदमी दर्जा आलिफ के पैंतीस, दर्जा बै के पन्द्रह, दर्जा अव्वल के सात, दर्जा दोयम के पांच लड़कों की पढ़ाई की देखभाल क्यों कर सकता है। अपर प्राइमरी मदरसों में दो-दो तीन-तीन दर्जे एक-एक आदमी के सपुर्द रहते हैं । इसका लाजमी नतीजा यह होता है कि बच्चों को लिखना भी नहीं आता । मां-बाप देखते हैं कि जब उसका मदरसे जाना न जाना बराबर है तो घर ही पर क्यों न रहे, ताकि कुछ घर का काम-काज ही संभाले । नार्मल स्कूलों से जो लोग पढ़ाने का तरीका सीखकर आते हैं, वह भी मदरसों में आकर अपना सब तरीका भूल जाते हैं । बेचारे क्या करें, वहां उन्हें एक वक्त एक दर्जे की तालीम का सबक दिया गया । यहां उन्हें एक वक्त में चार दर्जे पढ़ाने को मिले । उन उसूलों पर क्योंकर अमल करें । एक दर्जे के पढ़ाने में लगे तो दूसरे दर्जे को हिसाब दे दिया, किसी दर्जे को इमला, किसी दर्जे को भूगोल । आंख तो एक ही है, कैसे इमले को सुधारें, कैसे हिसाब समझायें, कैसे ठीक ढंग से भूगोल की शिक्षा दें, गरज यह कि हड़बोंग-सा मचने लगता है । लड़के शैतान, मुदर्रिस को मशगूल देखा तो धौल-धप्पा शुरू किया ।

इसलिए सरकार अगर सचमुच शिक्षा की उन्नति चाहती है, सच्ची उन्नति, कागजी और नुमाइशी नहीं, तो मिस्टर डिलाफास की राय के अनुसार मुदर्रिसों की तादाद और तनख्वाह बढ़ाये । किसी मुदर्रिस की तनख्वाह पन्द्रह रुपये से कम न रहनी चाहिए, और कोई मुदर्रिस नौकर न रखा जाना चाहिए जिसने उर्दू और हिन्दी मिडिल की सनद न हासिल की हो और पढ़ाने के ढ़ंग का जानकार न हो। और कोई मदरसा ऐसा न रहना चाहिए जिसमें कम से कम दो मुदर्रिस न हों । तभी तालीम की हालत सुधर सकती है। इसमें

कोई शक नहीं कि इन सब तरक्कियों के लिए बहुत रकम की जरुरत है मगर कौम की तालीम एक ऐसा मसला है जिस पर कितना ही खर्च हो, उसे बेकार नहीं कहा जा सकता । पिछले साल संयुक्त प्रान्त में उन्नीस लाख आरम्भिक शिक्षा में खर्च हुआ और औसत के हिसाब से प्रति छात्र साढ़े तीन आने। यह औसत दूसरे सभ्य देशों के मुकाबिले में बहुत ही कम है । क्या सरकार ऐसे पवित्र काम के लिए पचास लाख सालाना भी खर्च नहीं कर सकती ? रुपये की कमी एक ऐसा बहाना है जो गवर्नमेन्ट के लिए कभी सच्चा नहीं कहा जा सकता । गवर्नमेन्ट के साधन असीम है, और इतनी रकम वह बड़ी आसानी से खर्च कर सकती है । जब लड़ाई के खर्च इतने जोरों से साल-ब-साल बढ़ते चले जाते हैं, अफसरों के ऐश और सहूलतों पर रुपया कौड़ियों की तरह लुटाया जा रहा है तो गरीबी या तंगदस्ती का हीला कभी यकीन करने के काबिल नहीं ठहर सकता । यह भी गवर्नमेन्ट की एक चालाकी है कि उसने डिस्ट्रिक्ट बोर्डों पर शिक्षा का बोझ डालकर अपने को अलग कर लिया और अब 'एक जंजाल से और छुट्टी मिली' के तरीके पर अमल कर रही है । बोर्ड कहां से रुपया लगायें, जब प्राविंशियल गवर्नमेन्ट अपने मुकर्रर किये हुए हिस्से को सख्ती से वसूल करती चली जाती है । पिछले दो-तीन वर्षों से हरेक जिले में मास्टरों को पढ़ाने का ढ़ंग सिखाने के लिए दो-तीन मदरसे कायम किये गये हैं । हरेक मदरसे में सालाना छः मुदर्रिसों की तालीम होती है और सनद हासिल करने के बाद वह सरकारी मदरसों में नौकर रक्खे जाते हैं। इस मामले में भी सरकार ने गलती की है । अब मदरसों में मास्टर एक नार्मल स्कूल का सनदयाफ्ता होता है जिसकी तनख्वाह पन्द्रह रुपये महावार होती है । जाहिर है कि जो आदमी खुद मिडिल तक तालीम पाये हुए हों वह मिडिल पास मुदर्रिसों को पढ़ाने का ढंग क्या सिखायेगा ? हकीकत से यह रुपया बिल्कुल बर्बाद होता है । बहुत अच्छा होता अगर एक-एक जिले में ऐसे तीन-तीन मदरसों के बजाय सिर्फ एक मदरसा होता और उसमें इलाहबाद के ट्रेनिंग कालेज का सनदयाफ्ता सीनियर या जूनियर आदमी तालीम देता। वह अंग्रेजी तालीमयाफ्ता होने और तालीम के उसूलों का जानकार होने के कारण मुदर्रिस की तालीम ज्यादा खूबी से कर सकता ।

कुछ तो रुपये की कमी है और कुछ बेजा खर्च । कभी-कभी सरकार ने दो-चार लाख ज्यादा दिया भी तो वह इन्सपेक्टर और डायरेक्टरों और मैं और तू के बांट-बखरे में पड़ जाता है और मुदर्रिस ज्यों का त्यों भूखा रह जाता है । इस साल तीन इन्सपेक्टर और बढ़ाये गये जिसके माने यह है कि चालीस हजार रुपये का खर्च और बढ़ गया । दुर्भाग्य से सरकार का खयाल है कि मुआइना ज्यादा होना चाहिए चाहे तालीम हो या न हो। मुआइने पर रुपया खर्च किया जाता है मगर तालीम की खबर नहीं ली जाती । पिछले साल मिस्टर चौधरी ने बंगाल में वहां की गवर्नमेन्ट पर एक एतराज किया था कि तालीम के मुकाबिले में मुआइना कभी तालीम की जगह नहीं ले सकता ।

उस पर से आफत यह है कि मुदर्रिसों के सर काम का इतना बड़ा बोझ भी काफी नहीं समझा जाता । कम से कम पच्चीस फीसदी हल्केबन्दी मदरसे ऐसे हैं जिनमें मुदर्रिस तालीम के अलावा डाकखाने का काम भी किया करते हैं । इस अतिरिक्त काम के लिए उन्हें तीन रुपये से लेकर पांच-छः रुपये तक मिलते हैं । चूंकि बोर्ड जानती है कि मुदर्रिस को सरकार से काफी तनख्वाह नहीं मिलती, इसलिए वह उन्हें डाकखानों का काम हाथ में लेने से रोकने की कोशिश नहीं करती । बल्कि अक्सर मुदर्रिसों की कारगुजारियों का पुरस्कार इसी पोस्टल अलाउंस की शकल में दिया जाता है । गवर्नमेन्ट की यह कंजूसी तालीम के हक में जितनी नुकसानदेह है उसका अंदाजा करना मुश्किल है । डाकखाने का काम रोज-ब-रोज ज्यादा होता जाता है । मुदर्रिस इस काम के लिए कोई खास वक्त मुकर्रर नहीं कर सकता । देहात के जमींदार और काश्तकार जिस वक्त फुरसत पाते हैं, मुदर्रिस के पास पहुंच जाते हैं, और गरीब मुदर्रिस को उनकी दिलजोई करते ही बन पड़ती है । अगर वह कायदे बघारने लगे तो जमींदार साहब नाराज हो जायं, पोस्टमास्टर जनरल के यहां शिकायत कर बैठें, या मुदर्रिस की लान-तान शुरू करे और उसकी हस्ती खतरे में डाल दें । इसलिए वह जिस वक्त आ जाते हैं, मुदर्रिस को उनका काम करना पड़ता है । यह सिलसिला सवेरे से शाम तक जारी रहता है और चूंकि मुदर्रिस को भी डाकखाने के काम से कुछ जाती फायदा हो रहता है वह इस बेवक्त आने का बेजा नहीं खयाल करता । लगान के फसल में एक-एक दिन कई-कई सौ के मनीआर्डर आ जाते हैं, और हरेक मनीआर्डर पर मुदर्रिस को कुछ आने पैसे मिल जाते हैं। यह बहुत स्वाभाविक बात है कि मुदर्रिस जैसी छोटी हैसियत का आदमी जाती फायदे के इन मौकों को हाथ से न जाने दे । अफसोस की बात है कि हमारी गवर्नमेन्ट की निगाहों में हमारी शिक्षा का कोई महत्व नहीं ।

दूसरी बड़ी जरुरत पाठ्यक्रम में सुधार करने की है । इस प्रश्न पर न शिक्षा विभाग और न गवर्नमेन्ट कोई पक्की राय कायम कर सकी, कोई कुछ कहता है और कोई कुछ। कुछ लोगों का खयाल है कि आरंभिक शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ यह होना चाहिये कि लड़का अक्षर पहचानने लग जाये और कुछ मोटा हिसाब जान ले। दूसरी जमात का यह ख्याल है कि लड़के की आरंभिक शिक्षा इस ढंग पर हो कि उसे आगे चलने में मदद मिले । हमारे खयाल में दोनों रायें एक-दूसरे की विरोधी हैं । जिस शिक्षा को हम आरम्भिक

शिक्षा कहते हैं वह देहातों के लिए आरम्भिक शिक्षा नहीं है बल्कि नब्बे फीसदी लड़कों के लिए वह अंतिम शिक्षा है । अपर प्राइमरी पास करने के लिए औसतन छ: वर्ष लगते हैं, मगर मुश्किल तो यह है कि छात्रों का दो तिहाई हिस्सा अपर प्राइमरी दर्जे तक भी नहीं पहुंचने पाता, लोअर प्राइमरी दर्जे तक ही उसकी शिक्षा का अंत हो जाता है । इसलिए जरूरी और बहुत जरूरी है कि हमारी जरूरतों के लिए काफी तौर पर शिक्षा दी जाय । एक कलक्टर साहब बहुत सही लिखते हैं कि हल्केबंदी वाले मदरसों के लगभग तमाम लड़के मदरसा छोड़ने के बाद बिन-पढ़े लड़कों की जमात में जा मिलते हैं । शिक्षा का कोई दिखाई पड़ने वाला प्रभाव उन पर नहीं पाया जाता और चूंकि उनकी शिक्षा नाममात्र के लिए होती है, वह थोड़े ही दिनों में सब कुछ भुला बैठते हैं ।'

हमारा ख्याल है कि अपर प्राइमरी दर्जे की पढ़ाई अगर जरा और व्यापक कर दी जाय तो किसानों की जरूरतों के लिए काफी है । रीड़रें जो इस वक्त चल रही हैं, भाषा की दृष्टि में सब निकम्मी हैं । उनके पढ़ने से लड़के मामूली बोलचाल के सिवा न तो हिन्दी भाषा जानते हैं और न उर्दू । उनकी भाषा का सुधार होना चाहिए ताकि लड़के रामायण तो समझ लें । व्याकरण की कोई जरुरत नहीं, उसे खारिज कर देना चाहिये । भूगोल की शिक्षा काफी है। हिसाब में भी कुछ कसर नहीं । अमली सवालों की मश्क ज्यादा होनी चाहिये । ड्राइंग व्यर्थ है । उसके बदले तन्दुरुस्ती के बारे में एक छोटी सी प्राइमर होनी चाहिए और भाषा के व्याकरण की जगह पर खेती के कुछ उसूल सिखाये जाने चाहिए । इस वक्त चिट्ठी-पत्री का तरीका नहीं सिखाया जाता । यह एक बहुत जरूरी चीज है । इसका भी कुछ प्रबन्ध होना चाहिए । और तब आरम्भिक शिक्षा का मसला गोया हल हो जायगा । यह खयाल रहे कि यह सबकुछ सिर्फ चार सालों का कोर्स है और जब तक कि मुदर्रिसों की तादाद में उचित वृद्धि न की जाये, इस कोर्स को खत्म करने के लिए चार साल की मुद्दत हरगिज कम नहीं । जनसाधारण में शिक्षा के लोकप्रिय न होने का एक बड़ा कारण यह है कि लड़के वर्षों तक पढ़ते रहते हैं और कुछ नतीजा नहीं निकलता । इसके लिए मास्टरों की कमी, उनके पास उचित योग्यता का न होना और शिक्षा के पाठ्यक्रम में खामी तीनों जवाबदेह हैं ।

शिक्षा के लिए तीसरी जरुरत ठीक मकान की है । आमतौर पर मदरसों की इमारती हालत बेहद अफसोसनाक है। तहसीली मदरसों में तो खैर कहीं-कहीं पक्के मकान बन गये हैं मगर लोअर प्राइमरी और प्राइमरी मदरसों की हालत बहुत रद्दी है । उन्हें देखकर मवेशीखाने या अनाथालय का ख्याल पैदा होता है । दीवारें पुरानी, दरवाजे टूटे हुए, छतें गिरी हुई, जमीन का फर्श कच्चा । यहां भी रिश्वत और गबन की गर्म-बाजारी है । अगर किसी निर्माण के लिए हजार रुपया मंजूर हुआ है तो यह यकीनी बात है कि कम से कम आधी रकम जरुर बीच की मंजिलें तय करने में खर्च हो जायेंगी । जिम्मेदार अफसरों में लाज-शरम की भावना ऐसी ठंडी हो गई है कि इस अच्छे काम की अमानत में भी खयानत करने से वह बाज नहीं आते। एक तो बोर्डों की गरीबी, उस पर मंजूरशुदा रकम की यह नोंच-खसोट मदरसों की हालत को बहुत ही बुरा बनाये हुए है। अक्सर बोर्ड की तरफ से मदरसों के लिए इमारत भी नहीं होती। अगर गांव में कोई समझदार आदमी हुआ तो उसने अपने दरवाजे पर या तो कोई झोंपड़ा डलवा दिया या, अपने गऊशाले में एक टाट बिछाने की जगह दे दी । मुदर्रिस और मदरसे पर इतना एहसान करके वह अपनी निगाहों में हातिम बन बैठता है। जाहिर है कि ऐसी जगहों में शिक्षा की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया जा सकता । जमींदार साहब दरवाजे पर असामियों को लेकर बैठ जाते हैं और बुलन्द आवाज में फरमाते हैं कि डिप्टी साहब ने मुझसे यह सवाल किया तो मैंने उसका यह जवाब दिया और मुद्दालेह के वकील को यों लाजवाब कर दिया । उपस्थित लोग कान लगाये उनकी बातें सुन रहे हैं । क्योंकर मुमकिन है कि लड़के का ध्यान इस तरफ न खिंच जाये। लड़कों में ध्यान जमाने की योग्यता यों भी कम होती है और जब उस ध्यान को हटाने के लिए कोई हीला हाथ आ जाये तो फिर पूछना ही क्या है । यह तो हुआ उन मौजों का हाल जहां के जमीन्दार साहब जरा उदार हृदय हैं । जिन गांवों में ऐसे आदमी नहीं है वहां का हाल तो ऐसा है कि क्या कहें। मुदर्रिस पेड़ के नीचे बैठ जाता है और उस खुली हुई जगह में जाड़े की सर्दी और ग्रीष्म की गर्मी सब झेल डालता है । ऐसी हालत में वह मदरसा आस-पास के लोगों में मकबूल नहीं होने पाता और शिक्षा के फैलने में रुकावट डालता है । जब तक कि हरेक मदरसे के लिए सरकारी इमारत न हो जाय शिक्षा के ढंग में सुधार होना बहुत मुश्किल है क्योंकि मुदर्रिस आम लोगों के सामने हंसी और मजाक के डर से शिक्षा के बेहतरीन तरीकों पर अमल नहीं कर सकता ।

हमारी शिक्षा का तो यह हाल है और हमारे पब्लिक काम करने वाले इन मसलों की तरफ से बिल्कुल गाफिल बैठे हुए हैं । कितने ऐसे पत्रकार या रिजोल्युशन पास करने वाले वकील हैं, जिन्होंने किसी जिले में दौरा करके यह पता लगाया हो कि कितने मदरसों में इमारत है और कितनों में नहीं । डायरेक्टर साहब की रिपोर्ट से जाहिर नहीं होता कि कितने फीसदी मदरसे सरकारी इमारत पर गर्व कर सकते हैं । डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बर साहबान जैसे लायक और तालीमयाफ्ता होते हैं उनसे यह उम्मीद करना कि इन मसलों पर वह कुछ कर सकते हैं, एक बेकार की उम्मीद है। ◆

– जमाना, मई-जून सन् 1909 ('विविध प्रसंग' से)